स्त्रियों के हक़ में 21वीं सदी की हिन्दी कविता

महेंद्र सिंह

जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली

आज जबकि हम सभ्यता की उस दहलीज़ पर खड़े हैं जहां चाँद के दक्षिणी ध्रुव पर हिंदुस्तान की विजय का ध्वज लहरा रहा है, वैज्ञानिक आविष्कारों ने सूचना और आरामदेह जीवनशैली को एक क्लिक या एक डिजिटल आदेश भर में हमारे पास मुहैया करा दिया है। डिजिटल युग ने लोगों को अभिव्यक्ति का एक ऐसा माध्यम उपलब्ध करा दिया है जहां न कोई मुख्यधारा है न कोई हाशिया। आज डिजिटल क्रांति से जुड़ा समाज का हर वर्ग खुलकर अपनी अभिव्यक्ति कर पा रहा है। किन्तु तकनीकि की दुनिया से बाहर आते ही हमें समाज में वही असमानता जो कई सदियों से चली या रही है एक नए वेश में मौजूद मिलती है । हिन्दी में हम जिस हाशिये की बात कर रहे हैं उसका सीधा संबंध इतालवी मार्क्सवादी विचारक अंटोनियों ग्राम्शी से है। ग्राम्शी ने सबाल्टर्न शब्द का प्रयोग किसी भी तरह के वंचितों, शोषितों और सर्वहारा वर्ग के लिए किया है। भारत के संदर्भ में भी हर वह वर्ग जिसका किसी भी तरह से शोषण किया गया है, वह हाशिये में शामिल है। चाहे वो स्त्री हो, दलित हो, अल्पसंख्यक हो और अन्य जितने तरह के विमर्शों के बारे में आज हम जानते है वे सभी हाशिये के समाज में शामिल हैं। दरअसल इस सबाल्टर्न थ्योरी ने ही इन सभी विमर्शों को जन्म दिया है। स्त्रियों के शोषण की परंपरा हमारे समाज में हिन्दी साहित्य के आरंभ के पहले से ही मौजूद है। मैनेजर पाण्डेय अपने एक व्याख्यान में कहते हैं – "*संस्कृत में जो नाटक लिखे जाते थे- प्राचीनतम नाटक जैसे भास और कालीदास के नाटक, उनमें स्त्रियों को संस्कृत में संवाद बोलने की आजादी नहीं थी, वे प्राकृत में बोलती थीं। यह कैसी विडंबना है कि पुरुष बोल रहा है संस्कृत में और स्त्री प्राकृत में*"।[1] स्त्री को दोयम मानने की परंपरा हिन्दी से पहले संस्कृत साहित्य में मौजूद थी। खैर! मेरा यह शोध-आलेख अस्मितावादी विमर्शों के आलोक में महिलाओं पर विगत तमाम सदियों में किए गए तथा वर्तमान में किए जा रहे शोषण एवं अत्याचारों का अभिलेख नहीं है। यह आलेख कुछ ख्यात-अख्यात

[1] मुख्य धारा बनाम हाशिये की कविता: दया शंकर शरण, समालोचन वेब पत्रिका

और अल्पख्यात समकालीन कवियों की लिखत में मौजूद स्त्री को खोजने का एक प्रयास भर है।

समय के साथ-साथ स्त्री की स्थिति, उसके संघर्ष और उसकी आवाज़ को कविता में प्रकट करने का एक विशेष प्रयास किया गया है और इसी क्रम मे कविताकर्म अपने नए हेतु सृजित करता रहा है। इसी विकास यात्रा में समकालीन दौर की कविता सिर्फ स्त्री की पीड़ा और संघर्ष को नहीं, बल्कि उसकी शक्ति, स्वतंत्रता और अस्तित्व की महत्ता को भी उजागर करती है। स्त्रियों की दशा और दिशा पर सर्वाधिक कविताएं लिखने वाली समकालीन कवयित्रियों की सूची में 'अनामिका' नाम अग्रगण्य है। अनामिका ने भारतीय परिवेश में स्त्रियों के देखने के नजरिए को अपनी कविताओं में बखूबी पिरोया है। अनामिका की कविताई में आक्रोश है तो आग्रह भी है, वे अपने प्रश्नों के दायरे में अगर तुलसीदास को खड़ा करती हैं तो स्वयं की पड़ताल करना भी आवश्यक समझती हैं ।

"तो मेरे हे राम बोला, बम भोला / मैंने तुम्हें डाँटा / डाँटा तो सुन लेते / जैसे सुना करती थी मैं तुम्हारी

XXX

अपने झोले में ही / अब निकलूँगी मैं भी / अपने संधान में अकेली / आपका झोला हो आपको मुबारक / अच्छा बाबा, राम राम"[2]

उपर्युक्त कविता में तुलसीदास और रत्ना के बहाने पुरुष और स्त्री के संबंधों को समझाने का प्रयास है। उसे भी प्रेम में डाँटने का उतना ही अधिकार है जितना की पुरुष को। किन्तु पुरुष के झूठे पौरुष के प्रतिकूल है स्त्री की डांट सुनना। सीता के मन को जानने समझने का दावा करने वाली पंक्तियाँ लिखने वाले तुलसी अपनी पत्नी के मन को कभी न समझ पाए और उसे परित्यक्त कर दिया। किन्तु पति का परित्याग करना उसे कमजोर नहीं कर पाया, एक समय तक प्रयास और उम्मीदें रखने वाली रत्ना को भी स्वाभिमान से रहने का अधिकार है और अंत में वह यही करती है। अनामिका अपने स्वाभिमान से समझौता न करने वाली कवयित्री हैं। ये बार-बार

[2] अनामिका, दूब-धान, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, 2008, पृ. 21

खुद से यह सवाल करती रहती हैं कि एक स्त्री जितना समाज के प्रति फिक्रमंद रहती है क्या स्वयं के प्रति भी है? अगर नहीं! तो उसे होना चाहिए...कवयित्री लिखती हैं-

क्या मैंने खुद से की है नमस्ते? / क्या मेरे दो हाथ जुड़ें हैं कभी / अपने भीतर के उस 'मैं' के खातिर?[3]

एक स्त्री महज़ पुरुष की भोग्या और दासी नहीं है। महादेवी वर्मा 'शृंखला की कड़ियाँ' में लिखती हैं- "आज हमारी परिधि कुछ और ही है। स्त्री न घर का अलंकार मात्र बनकर रहना चाहती है और न ही देवता की मूर्ति बनकर प्राण-प्रतिष्ठा चाहती है[4]'। अनामिका महादेवी वर्मा की बात को दूसरे शब्दों में अपनी कविता में कहती हैं-

पढ़ा गया हमको जैसे पढ़ा जाता है काग़ज़ / बच्चों की फटी कॉपियों का / चनाजोर गर्म के लिफ़ाफ़े बनाने के पहले! / देखा गया हमको / जैसे कि कुफ़्त हो उनींदे / देखी जाती है कलाई घड़ी / अलस्सुबह अलार्म बजने के बाद[5]

एक स्त्री कलाई घड़ी नहीं है और न ही फटी कापियों का कागज ही है जिसे तरह-तरह से इस्तेमाल किया जाता रहेगा। कभी रद्दी में बेचा जाएगा तो कभी उसे कुछ खाने के लिए दोना या पत्तल भी बनना पड़ेगा। इसके बरक्स वह स्वयं को इंसान की तरह देखे जाने का आग्रह करती है। उसे कम से कम उतनी सहूलियत तो मिलनी ही चाहिए जितनी एक सामान्य इंसान को मिलती हैं। अनामिका का आग्रह है–

हम भी इंसान हैं— / हमें क़ायदे से पढ़ो एक-एक अक्षर / जैसे पढ़ा होगा बी.ए. के बाद / नौकरी का पहला विज्ञापन! / देखो तो ऐसे / जैसे कि ठिठुरते हुए देखी जाती है / बहुत दूर जलती हुई आग! / सुनो हमें अनहद की तरह / और समझो जैसे समझी जाती है... [6]

अपनी कविता में अंगार भरकर कवयित्री 'आभा बोधिसत्व' मिथकों की पुरुषवादी व्याख्या पर बार बार सवाल उठाती हैं। वे स्त्री के अपमान के आलोक में राम और

[3] अनामिका, दूब-धान, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, 2008, पृ. 102
[4] शृंखला की कड़ियाँ, महादेवी वर्मा
[5] खुरदुरी हथेलियाँ, अनामिका, पृ. 14
[6] वही।

रावण दोनों को समान धरातल पर खड़ा करती हैं। यदि रावण ने एक स्त्री की बिना इच्छा उसका हरण किया हो तो लक्ष्मण ने भी एक स्त्री को उसके प्रणय निवेदन के प्रस्ताव के लिए अंग-भंग किया है। फिर एक राक्षस और दूसरा ईश्वर कैसे हो गया।

मैं पूछती हूँ तुमसे आज / नाक क्यों काटी शूर्पणखा की? / वह चाहती ही तो थी तुम्हारा प्यार? / उसे क्यों भेजा लक्ष्मण के पास? / उसका उपहास किया क्यों? / वह भी तो थी एक स्त्री / वह राक्षसी थी तो क्या / उसकी कोई मर्यादा न थी / क्या उसका मान रखने की तुम्हारी कोई मर्यादा न थी? / तुम तो पुरुषोत्तम थे![7]

आभा अपनी कविता के माध्यम से पुरुष के उस घमंड को तोड़ती हैं जिसमें वह स्त्री को अबला बनाकर उसका रक्षक बनने की संज्ञा हासिल करना अपने पुरुषत्व का प्रथम कर्तव्य मानता है। समकालीन कविता में स्त्री प्रेम की अपनी परिभाषाएं गढ़ना जानती है। वह प्रेम में भाग जाने वाले पुरुष का यशगान नहीं करती, उसके लिए प्रेमी का आदर्श कृष्ण नहीं हैं। वह अपनी कविता में एकनिष्ठ प्रेम की हिमायती है। 'आरती अबोध' की एक कविता देखिए-

प्रेम करती स्त्रियाँ बुद्ध नहीं हुआ करतीं / न ही बन पाई कभी कोई कृष्ण ही / स्त्रियों को देवता होना नसीब ही नहीं हुआ![8]

सामाजिक वर्जनाओं से लड़ती स्त्री समाज के बंधनों से टकराते हुए अपने असमंजस को अब खुल कर व्यक्त करती है। बालपन से किशोरावस्था के मध्य के 'ट्रांजिशन फेज' में समझती- उलझती स्त्री का शब्दचित्र बड़ी खूबसूरती से 'ऐश्वर्य राज' खींचती हैं।

लेकिन उसे मछलियाँ तलने के बजाय बैठकर देखना था— / जाल में कैसे आती हैं मछलियाँ / शायद देखते-देखते / सीख भी जाती लगाना करंट-जाल / और डरती कि सब करते हुए अगर भूल जाएगी / छाती में बाँधना दुपट्टा / रखना नज़र नीची / बन जाएगी उस पल एक कुशल मछली-मार से / 'छिनाल', 'बेलगाम', 'पगलिया' /

[7] आभा बोधिसत्व, सीट नहीं मैं, हिंदवी वेबसाइट https://www.hindwi.org/kavita/sita-nahin-main-aabha-bodhisatva-kavita

[8] आरती अबोध, परित्यक्त बाघिन, हिंदवी वेबसाइट https://www.hindwi.org/kavita/parityakt-baghin-aarti-abodh-kavita

किसी अनजान गाँव के मर्द या परिचित रिश्तेदार या माँ से पड़ने वाली गालियों में / इसलिए वह बिना मछलियों, तितलियों, साइकिलों, सड़कों की बात किए / एक काल्पनिक सवाल के लिए सोचती है / एक झुँझलाहट भरा जवाब— / 'कुछ नहीं चाहिए फ़िलहाल...' [9]

यह कविता 21वीं सदी में तब लिखी जा रही है, जब हम स्त्री को अपने नारों में सशक्त कर चुके हैं। उपर्युक्त कविता स्त्री के अंदर का वह संशय है जो एक वय-विशेष में केवल स्त्री को ही परेशान करता है इसीलिए समवय स्त्री ही इसे बखूबी दर्ज़ कर सकती है। हालांकि उम्र के संक्रांति काल को छोड़ दें तो सहानुभूति और समानुभूति के धरातल पर पुरुष और स्त्री रचनाकरों की रचनाएं बहुत अलग नहीं दिखाई देतीं। स्त्री- दुर्दशा को पुरुष कवियों ने भी अपनी लेखनी से जाहिर किया है। कुमार अंबुज की कविता 'खाना बनाती स्त्रियाँ' स्त्री होने की त्रासदी को व्यक्त करती है। स्त्री जिसे एक काम करने वाली मशीन भर समझा गया। जिसकी स्वाधीनता-पराधीनता का प्रश्न एक अर्थहीन सवाल बन कर रह गया है। दिनों, महीनों और वर्षों के अनंतर वे एक मशीनरी का कल-पुर्जा बन खटने के लिए निर्धारित कर दी गई हैं।

आपने उन्हें सुंदर कहा तो उन्होंने खाना बनाया / और डायन कहा तब भी / उन्होंने बच्चे को गर्भ में रखकर खाना बनाया / फिर बच्चे को गोद में लेकर / उन्होंने अपने सपनों के ठीक बीच में खाना बनाया / तुम्हारे सपनों में भी वे बनाती रहीं खाना / पहले तन्वंगी थीं तो खाना बनाया / फिर बेडौल होकर...

XXX

कई बार आँखें दिखाकर / कई बार लात लगाकर / और फिर स्त्रियोचित ठहराकर / आप चीख़े—उफ़, इतना नमक / और भूल गए उन आँसुओं को / जो ज़मीन पर गिरने से पहले / गिरते रहे तश्तरियों में, कटोरियों में [10]

कुमार अंबुज की इस कविता में स्त्री होने की बेबसी झलकती है। दरअसल स्त्री इतनी बेबस थी नहीं, पितृसत्ता के द्वारा उसे लाचार बनाया गया। इसी पुरुषप्रधान समाज की तरफ इशारा था 'सीमोन द बौआर' का जब वे कहती हैं – "*स्त्रियाँ पैदा नहीं*

[9] रचनाकार : ऐश्वर्य राज प्रकाशन : सदानीरा वेब

[10] प्रतिनिधि कविताएँ, कुमार अम्बुज, राजकमल प्रकाशन, 2014 (पृष्ठ 117)

होती बना दी जाती हैं"[11]। कुमार अंबुज की कविता में स्त्रियाँ विरोध और विद्रोह करके आपना हक़ हासिल करने की अपेक्षा सब कुछ ठीक हो जाने का हर प्रयत्न करती प्रतीत होती हैं। कवि की कविता स्त्री की उस दशा को पाठक तक पहुँचाकर उसे समझने की अपील महसूस होती है। वह पुरुष को प्रसन्न रखने के लिए हर संभव प्रयत्न करती हैं और इस प्रक्रिया में अपने सपनों को मार चुकी होती है। कुमार की कविता में स्त्री का रुदन नहीं है उसका नि:श्वास है, उसकी घुटन है, सपनों के मरने के बाद परछाई बनकर जीने का वरण है। यहाँ स्त्रियाँ इस यथार्थ को जीवन मानकर जीने के लिए विवश हो चुकी हैं-

दुख उठाने के लिए स्त्रियां ही बची रह जाती हैं/ मानों उनका यही जीवनचक्र है: सुख देना, दुख सहना/ और नए दुखों/ की राह तकना/ पार्श्व में संगीत गूंजता है विलाप की तरह/ वाद्य यंत्र अपना काम करते हैं/ बन्दूकें अपना[12]

लेकिन कुमार अंबुज की इन्ही हताश स्त्रियों पर ही जीवन की तमाम आशाएं और अंतिम उम्मीदें भी टिकी हुईं हैं। जब सारे मार्ग बंद हो जाएँ तो वह इन्ही से अपना गंतव्य पा सकेगा। एक स्त्री का विश्वासपात्र होना उसे जीवन का उद्देश्य प्रदान करेगा।

जब ढह रही हों आस्थाएं/ जब भटक रहे हों रास्ता/ तो इस संसार में एक स्त्री पर कीजिए विश्वास।[13]

कुमार अंबुज टूटती-बिखरती आस्थाओं- विश्वासों के बीच स्त्री पर यकीन रखने के पैरोकार हैं। चाहे कुमार अंबुज की कविता स्त्री होने की व्यथा को स्वीकार कर चुकी हो किन्तु आज की कविता में महज छायावाद की नीर भरी दुख की बदरी बनकर यथास्थिति को स्वीकार करने की कविता नहीं है, और न ही वह केवल श्रद्धा ही है जिसे जीवन के सुंदर समतल में पीयूष श्रोत के समान बस बहते जाना है। आज की स्त्री सवाल का जवाब देने के साथ ही सवाल करना भी जानती है। उसे मिथकीय गल्पों में भी पुरुष का वर्चस्व असहनीय है। उसका स्वर विद्रोह का भी है। वह पल

[11] स्त्री उपेक्षिता, सीमान् द बौआर, पृ, सं– 1
[12] धरती का विलाप, उपशीर्षक (कविता संग्रह), कुमार अम्बुज, राधाकृष्ण प्रकाशन, 2022
[13] एक स्त्री पर कीजिए विश्वास, अनंतिम (कविता संग्रह), कुमार अंबुज, राधाकृष्ण प्रकाशन, 2021

भर में पितृसता को ध्वस्त करने का माद्दा रखती है। वह एक स्त्री होने के नाते शूर्पनखा की पर किए अत्याचारों पर अपने पति को भी सवालों के घेरे में ले सकती हैं। अदनान कफ़ील दरवेश फ़िलवक्त इसी सुवाद की कविताएं लिख रहे हैं। अदनान एक जबरन ब्याही गई बालिका के मनोभावों को उसी धरातल पर जाकर व्यक्त करते हैं। वह स्त्री जिसे पता भी नहीं है कि उसका भविष्य कैसा है, वे लोग कैसे हैं जिनके साथ वह अपना जीवन जीने (?) जा रही है।

आज जिस पुरुष की वह स्त्री मान ली गई है / उसे बिल्कुल नहीं जानती / आज उस स्त्री के प्रथम सहवास का दिन है / आज ही एक पुरुष ने उसे बड़ी धूमधाम से ख़रीद लिया है / आज ही उसकी हत्या होगी / आज ही उसका एक नए घर में पुनर्जन्म होगा / नया सजा-धजा घर / नया शरीर / नए हाव-भाव / नई हँसी / नए विचार / नई संवेदना / इतनी नई कि कुछ दिनों में ही भूल जाएगी / अपना पिछला जन्म / उस प्रेमी का चेहरा भी / जिसे उसने अपने सीने के तहख़ाने में छुपा दिया था / पिता के घर की देहरी लाँघने के बाद ही... [14] । कविता की अंतिम पंक्ति है- "*क्योंकि मैं भी उस स्त्री की हत्या में शामिल हूँ*"।[15] कविता को पढ़ते हुए कविता में दर्ज़ की गई महिला के साथ समानुभूति के धरातल पर खड़ा होकर कुछ न कर पाने की बेबसी में, आत्मग्लानि में स्वयं अपराधबोध से ग्रसित हो उठता है।

रमाशंकर यादव 'विद्रोही' के यहाँ स्त्री का 'स्टीरियोटाइप' टूटता है। पुरुष प्रधान समाज ने जहां स्त्री को कोमलांगी मानकर उसे प्रेम, दया, ममता और सौन्दर्य की प्रतिमूर्ति मानकर उसकी कोमलता का पानी पी-पीकर बखान किया वहीं विद्रोही के लिए स्त्री क्रांति है, प्रेरणा है –

मैं तुम्हें इसलिए प्यार नहीं करता / कि तुम बहुत सुंदर हो, / और मुझे बहुत अच्छी लगती हो। / मैं तुम्हें इसलिए प्यार करता हूँ / कि जब मैं तुम्हें देखता हूँ, / तो मुझे लगता है कि क्रांति होगी। / तुम्हारा सौंदर्य मुझे बिस्तर से समर की ओर

[14] एक स्त्री की हत्या में शामिल हूँ, अदनान कफ़ील दरवेश, हिंदवी, https://www.hindwi.org/kavita/ek-istri-ki-hattya-mein-shamil-hoon-adnan-kafeel-darvesh-kavita?sort=popularity-desc
[15] वही

ढकेलता है। / और मेरे संघर्ष की भावना / सैकड़ों तो क्या, / सहस्त्रों गुना बढ़ जाती है।[16]

जहां एक ओर रोमांटिक कवियों ने स्त्री के हाथों में गुलाब, रुमाल पकड़ाकर उसे सुकोमल और लवंगलता बनाने के पक्ष में इबारतें लिख डाली, दूसरे कवि ने **उसके हाथ की गर्माहट और सुंदरता** ही महसूस की [17] वहीं विद्रोही का सौंदर्यशास्त्र हाथों पर लिखी सारी इबारतों को चुनौती देता है। विद्रोही लिखते हैं- *मैं सोचता हूँ, तुम्हारे हाथों में बंदूक़ बहुत सुंदर लगेगी...* जिस 'स्टीरियोटाइप' के टूटने की बात उपर कही गई है उसे इसी कविता के अंत मे भी देखा जा सकता है –

जब तुम्हें गोली लगेगी, / और तुम्हारा ख़ून धरती पर बहेगा, / तो क्रांति पागल की तरह उन्मत्त हो जाएगी, / लाल झंडा लहराकर भहरा पड़ेगा / दुश्मन के वक्षस्थल पर, / और / तब मैं तुम्हारा अकिंचन प्रेमी कवि— / अपनी क़मीज़ फाड़कर / तुम्हारे घावों पर महरमपट्टी करने के अलावा / और क्या कर सकता हूँ।[18]

प्रेमी के घायल होने पर प्रेमिका अपने दुपट्टे से बहुत कर चुकी मरहम पट्टी, प्रेम मे पड़ा पुरुष कमीज़ फाड़कर प्रेमिका की मरहमपट्टी करते हुए कविताओं में दर्ज़ ही कहाँ हुए हैं? हमारे पूर्व ज्ञान ने यह कर्म प्रेमिकाओं के खाते मे डाल रखा है। इसी 'स्टीरियोटाइप' को तोड़ती है विद्रोही की कविता। प्रेम मे किस प्रेमी ने अपनी प्रेयसी की मृत्यु पर ऐसा उत्सव मनाने की कल्पना की होगी? विद्रोही के यहाँ प्रेम का दूसरा नाम क्रांति ही तो है। प्रेमिका को देखकर जो भाव परम्परागत प्रेम कविताओं मे उद्दीप्त होते रहे हैं, उनके लिए यहाँ कोई स्थान नहीं है।

इतिहास में वह पहली औरत कौन थी, / जिसे सबसे पहले जलाया गया, / मैं नहीं जानता, / लेकिन जो भी रही होगी, / मेरी माँ रही होगी। / लेकिन मेरी चिंता यह है कि / भविष्य में वह आख़िरी औरत कौन होगी, / जिसे सबसे अंत में जलाया

[16] इक आग का दरिया है..., नई खेती, रमाशंकर यादव विद्रोही, संपा.ब्रजेश यादव, नवारूण प्रकाशन, दिल्ली
[17] उसका हाथ/अपने हाथ में लेते हुए मैंने सोचा/दुनिया को हाथ की तरह गर्म और सुंदर होना चाहिए- केदार नाथ सिंह
[18] इक आग का दरिया है..., नई खेती, रमाशंकर यादव विद्रोही, संपा.ब्रजेश यादव, नवारूण प्रकाशन, दिल्ली

जाएगा, / मैं नहीं जानता, / लेकिन जो भी होगी / मेरी बेटी होगी, / और मैं ये नहीं होने दूँगा।[19]

अपनी क्रोशिया प्रवास डायरी, 'देह ही देश' में प्रो. गरिमा श्रीवास्तव लिखती हैं – "दुनिया के सारे युद्ध स्त्री की देह पर ही लड़े जाते हैं"।[20] दुनियाभर के तमाम युद्धों में पुरुषों की सीधी भूमिका होती है किन्तु दुहरा भुगतान स्त्री करती है। पुरुषों ने आदिकाल से स्त्री को भोग और मनोरंजन की वस्तु की तरह इस्तेमाल किया है। जब तक इस पितृसत्तात्मक समाज का ढांचा नहीं बदलेगा हम कितना ही **'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते'** कहते रहें, यथास्थिति बदलने वाली नहीं। समाज को यह समझने की जरूरत है कि स्त्रियाँ देवी नहीं हैं जिन्हे अवसर विशेष में पूज कर तालाब में फेंक देते हैं। इन्हे इंसान ही समझ लिया जाए तो हाशिये से मुख्यधारा में लाने के लिए अतिरिक्त प्रयास करने की आवश्यकता न पड़ेगी अन्यथा वह सदियों से पुरुष प्रधान समाज में हाशिये पर ही तो रही है...

/महेंद्र सिंह (शोधार्थी),

पीएचडी अंतिम वर्ष

जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली

[19] औरतें, नई खेती, रमाशंकर यादव विद्रोही, संपा.ब्रजेश यादव, नवारूण प्रकाशन, दिल्ली

[20] देह ही देश, गरिमा श्रीवास्तव, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली